Reference Manual for Primary Animal Husbandry Workers

Animal Health & Production

Volume: II

Organized By: Directorate of Extension Education,
CSK Himachal Pradesh Krishi Vishvavidyalaya
Palampur -176062. HP

Sponsored by: Mid-Himalayan Watershed Development Project

Designed & Conception : Dr. S. Katoch

Compiled Edited and prepared by:
S.Katoch, Devesh Thakur & Alok K Sharma
Deptt. Of Vety & AH Extn Edu. DGCN COVAS, CSK HPKV, Palampur-176062.

Index (Vol-II)

Sr. No	Topic	Page
30	हिमाचल में दुधरु पशुओं की नशलें एवं दुग्ध उत्पादन के लिए प्रचलित प1जन्न पद्धतियां	1
31	पहाड़ी क्षेत्रों में मछली पालन की सम्भावना एवं समस्या	5
32	तालाब का निर्माण एवं उसकी तैयारी	6
33	मछलियों का संचयन एवं रख रखाव	9
34	मछली की समन्वित खेती	11
35	Control of hemorrhage	12
36	Introduction to antiseptics and disinfectants	14
37	Protozoan Parasites of Veterinary Importance and their control	18
38	Important infectious diseases of livestock in Himachal Pradesh	20

Lecture-30

हिमाचल में दुधारु पशुओं की नशलें एवं दुग्ध उत्पादन के लिए प्रचलित पा1जन्न पद्धतियां

By Dr. Varun Sankhyan & Dr. Kailash Mahajan, Depatt. Of Animal breeding & Genetics, DGCN COVAS, CSK HPKV, Palampur.

हिमाचल प्रदेश में सामान्यता गाय व गैस ही दूध का मुख्य स्त्रोत है। यद्यापि कही कही बकरी भी दूध के लिए पाली जाती है। भैंस अधिकतर निचले पहाडी इलाको में जैसे कि ऊना कांगड़ा हमीरपुर बिलासपुर सोलन व सिरमोर में मुख्य दुधारू पशु के रूप में पाली जाती है। जहां तक नस्लों का प्रशन है अधिकतर जनसंख्या आवत्रीकृत और दुसरे नम्बर पर शंकर प्रजाती की गाय भैंसों की है । संकर जाती में एक भाग पहाडी गाय और दुसरा आयतित दुधारू नस्लों जैसे कि जर्सी व हालस्टिन फिजियन शामिल है तथा भैंसों में भी एक भाग मुर्रा व नीली रावी का है। यदि इतिहास में देखा जाए तो पांचवे दशक तक सारे दुधारू पशु आवर्गीकृत किस्म के थे जिनका दुध उत्पादन 1 या 2 लीटर से अधिक नहीं था । पांचवे दशक के मध्य से सरकार द्वारा कई योजनांए शुरू की गई जिससे की दुध का उत्पादन बड़ सके।इसके अन्तरगत पहले यह विचार किया गया कि इन्हीं पशुओं का चयनित विधि द्वारा सुधार किया जाए परन्तु इस प्रकार से सुधार की गति बहुत धीमी होती है।उत्पादन स्तर 2 लीटर से 4 लीटर तक बढ़ाने के लिए कम से कम 50 वर्ष तक लग सकते है।इस लिए सरकार ने चयनित विधि को त्याग कर कॉस ब्रिडिंग अथवा ग्रेडिंग अप की विधि अपनाने का निर्णय लिया। इस विधि के लिए विदेशी नस्लों का प्रयोग किया गया जिसके लिए इन नस्लों के सांड विदेशों से मंगवाए गए।शुरू में जर्सी हालस्टिन फिजियन आर्यशायर व गर्नसी नस्लों का प्रयोग किया गया परन्तु बाद मे यह पाया गया कि हिमाचल की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए केवल जर्सी नस्ल ही उचित है क्योंकि यह शरीर से हल्की होने के कारण पहाड़ो पर चढने की क्षमता दूसरी भारी नस्लों की अपेक्षा रखती है।इसलिए उपरी क्षेत्रों के लिए जर्सी तथा निचले पहाड़ी क्षेत्रों के लिए हालस्टिन फिजियन नस्ल की शिफारिश की गई।विदेशी सांडों की लगातार उपकब्धता बनाय रखने आयात का खर्च कम करने तथा यहां की जलवायु के अनुरूप सांड पैदा करने के लिए कमांद मडीं कोठीपुरा बिलासपुर एवं पालमपुर कांगड़ा में जर्सी फार्म स्थापित किए गये।सातवें दसक के अन्त में प्रदेश के लिए नई ब्रडिंग पालिसी का गठन किया गया जिसके अन्तरगत भारत की एक वर्गीकृत नस्ल रेडसिंधी को भी शामिल किया गया परन्तु इसका प्रयोग निचले पहाड़ी इलाकों में ही किया गया। प्रदेश के लिए शिफारिश की गई कुछ नशलें एवं ब्रीडिंग पालिसी इस प्रकार है।

साहीवालः

इस नस्ल की उत्पति पाकिस्तान के मोटगमरी

जिले के मध्य और दक्षिण भाग मे हुई ।इस नस्ल की गूढ काया छोटी टागें सींग गोल मटोल चौड़ा माथा और रंगो में लाल हल्का लाल गहरा भूरा जिस पर सफेद रंग के धब्बे होते हैं और पूँछ लम्बी घूमावदार होती है।इस नस्ल की गाय का वजन लगभग 340 किलो होता है।यह भारत के डेरी उद्योग की उत्तम नस्लों में से है जिसका औसत दूध उत्पादन 2150 किलो 300 दिन में है जब कि यह गाय 4535 किलो तक दूध दे सकती है।

रैड सिंधी

इस नस्ल की उत्पति कराची और हैदराबाद में हुई।यह मध्यम और ठोस आकार की होती है सींग सघन

और रंग गहरा भूरा तक पाया जाता है।इस गाय का

वजन लगभग **295** किलो है और औसत दूध उत्पादन **1725** किलो और इसकी दुध देने की क्षमता **5443** किलो तक है।

थारपारकर

इस नस्ल की उत्पति भारत के हैदराबाद जिले के थारपारकर में हुआ।यह मध्यम आकार ठोस गढनी और अवयव छोटा मजबूत सीधा होता है माथा हल्का उत्तल और मध्यम आकार के सींग होते है।नए पशुओं में रीढ के साथ सफेद रंग की लकीर होती है। इस गाय का उत्पादन **1474** किलो है और अच्छी दुग्धशाला में दूध उत्पादन **4763** किलो तक पाया है।

जर्सी

इस नस्ल की उत्पति इंग्लिश चैनल के जर्सी आइलैण्ड में हुई। इस नस्ल की गायों में सीधी लकीरें तीखा डिल्ला और

सिर पर दोहरी डिश होती है। इसमें अधिकतर हिरनौटा रंग पाया जाता है। इसका वजन लगभग **450** किलो और औसत दूध उत्पादन **4000** लीटर **300** दिनों में है। इस दूध में वसा **5.5** प्रतिशत प्रोटीन **3.9** प्रीतशत दुग्धशर्करा **4.9** प्रतिशत होती है।

होलस्टीन फ्रिजियन

इस नस्ल की उत्पति हौलैंण्ड में हुई।इस नस्ल की गढ़नी विषम सिर लम्बा संकीर्ण और सीधा होता है।अधिकतर यह काले और सफेद रंग में होती है।इस गाय का वजन लगभग **675** किलो और औसत दूध उत्पादन **6150** लीटर **305** दिनों में होता है।इस दूध में वसा **3.5** प्रतिशत प्रोटीन **3.1** प्रतिशत दुग्धशर्करा **4.9** प्रतिशत होती है

मुर्रा

इस नस्ल की उत्पति पंजाब और दिल्ली में हुई। इस नस्ल की ठोस

गढ़नी पीठ छोटी और चौडी सीगं छोटे और घूमावदार तथा खुर्र बडे होते हैं। इसका रंग काला और पूछँ व मुँह पर सफेद निशान होते हैं और औसत दूथ उत्पादकता **1400** से **2000** किलो तक है और वसा **7** प्रतिशत तक पाया जाता है।

नीली रावी

नीली रावी भैंसो की नस्लों की उत्पति मोंटगोमरी और फिरोजपुर मे हुई ।यह नस्ल मध्यम आकार ठोस गढ़नी

भारी सिर लम्बी और पतली गर्दन सीगं छोटे और पूँछ लम्बी जमीन तक पहुँचने वाली होती है।इसमें मुख्यत काला और भूरा रंग होता है।इसके माथे मुँह मज़ल टॉगों और ऑखों पर सफेद चिन्ह देखे जा सकते हैं।इसका औसत दूध उत्पादन **1600** किलो **250** दिन के लिए होता है।

नस्ल

हर पालतू पशु की जातियों की भिन्न नस्लें होती हैं। एक जाति के पशुओं का समूह जिनका मूल एक हो समान

विशेषतॉए हो जैसे बाहरी बनावट शारिरिक रंग ढॉचा आकार उसे नस्ल कहा जाता है।

बेहतर पशुओं का चुनाव

यह तब प्रभावशाली होता है जब पशुओं की संख्या अधिक हो और यह पशुओं की उत्पादन क्षमता एवं जेनटिक वेरयबिल्टी पर निर्भर करता है।

जिस पशु समूह में सुधार की जरूरत होती है और उत्पादक क्षमता कम होती है उस समूह में अच्छी उत्पादक क्षमता वाले पशुओं को दाखिल किया जाता है। इस के लिए या तो हम उसी नस्ल के अच्छे पशुओं को या किसी और नस्ल के अच्छे पशुओं को डाखिल कर सकते हैं।

बाहरी नस्लों का चुनाव इस बात पर निर्भर करता है कि किस गुणवत्ता और मात्रा में हरे चारे को उपलब्ध करवा सकते हैं।साधारणतः होलस्टीन फर्रीशीय्न में वातावरण का प्रभाव कुछ समय के लिए है और अगली पीढी में कोई सुधार नही होता है। जबकि जिनोाटाइप या अनुवाशिंक बनावट में बदलाव धीमा होता है परन्तु स्थिर प्रकिया से अनुवांशिक सुधार होता है। इसी कारण आने वाली पीढ़ियों की अनुवांशिक बनावट में सुधार का लक्ष्य है।

भैसों के लिए प्रजनन योजनॉए ः

भैसों के लिए दो प्रजनन योजनॉए उपयुक्त बताई गई हैं।एक देसी या कम दूध पैदा करने वाले पशुओं के लिए और दूसरी मान्य नस्लों के लिए। देसी कम दूध पैदा करने वाले पशुओं के लिए ग्रेडिग अप योजना अपनाई जाती है। इस प्रणाली द्धारा देसी भैंसों का अच्छी नस्लों के साडों जैसे मुर्रा नीली रावी इत्यादि के साथ मिलान करवाया जाता है। इस विधि से अगली पीढ़ी की भैसों के उत्पादन में देसी भैंस की तुलना **2** से **3** गुणा बढ़ जाती है। चार पॉच पीढ़ियों तक यह प्रणाली अपनाने से देसी भैंस को बढ़िया नस्ल की भैसों में तबदील किया जा सकता है जिस से दूध उत्पादन की क्षमता बढ़ जाती है और यह बढ़िया नस्लों से मिलती जुलती होती है।

मान्यता प्राप्त नस्लों अच्छी दूध उत्पादक पशुओं के लिए मिलान प्रणाली का चुनाव

इस प्रणाली के तहत मान्यता प्राप्त नस्लों या अच्छे दूध उत्पादक क्षमता वाले पशुओं को चुन कर उसी पशुओं से मिलान करवाया जाता है।

हिमाचल प्रदेश में गऊधन अनुवांशिक सुधार नीति

जर्सी संकर एवं देसी गाय की तुलना

विवरण	**जर्सी संकर**	**देसी गाय**
जन्म भार	15 – 17 कि.	12 – 13 कि.
प्रथम प्रजन्न आयु	20 – 30 माह	30 – 40 माह
प्रथम प्रसव की आयु	29 – 39 माह	47 – 57 माह
प्रसव काल	200 दिन	200 दिन
दूध देने की अवधि	250 – 300 दिन	200 – 400 दिन
दो व्यांहत के मध्य का समय	370 – 430 दिन	400 – 700 दिन
दूध न देने की अवधि	120 – 150 दिन	200 – 500 दिन
औसत दूध उत्पादन	1200 – 1400लि.	150 – 350 लि.
अधिकतम दूध (प्रतिदिन)	9 – 11 लि.	2 – 3 लि.
औसत दूध (प्रतिदिन)	4 – 5 लि.	0.75 – 2 लि.
प्रतिशत चिकनाई	4.5 %	3.75 %

अनुवांशिक सुधार नीति (Old breeding policy)

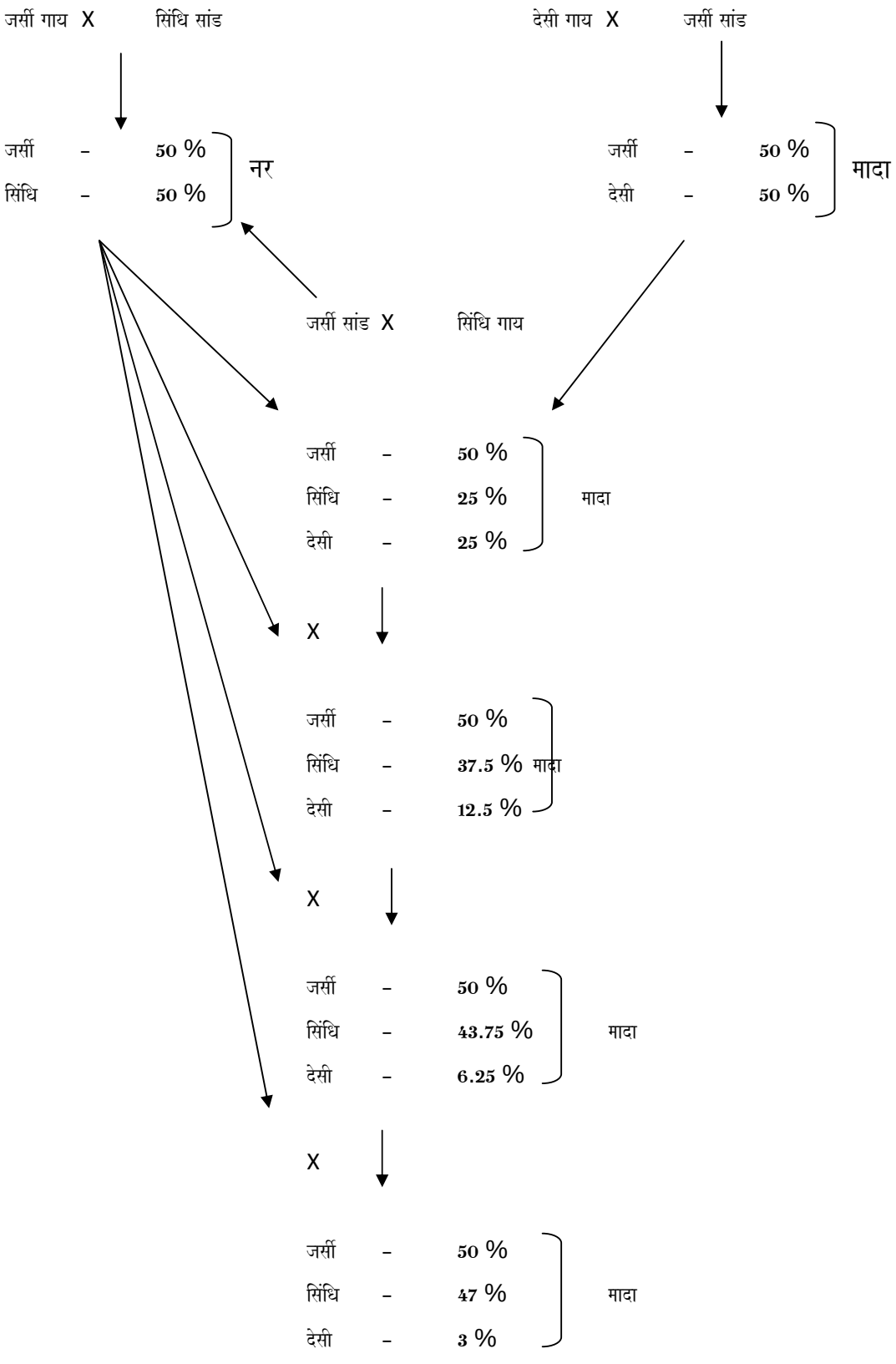

Lecture-31

पहाड़ी क्षेत्रों में मछली पालन की सम्भावना एवं समस्या

By Dr. Rani Dhanze, Deptt. Of Fisheries, DGCN COVAS, CSK HPKV, Palampur.

आज की बढ़ती आबादी के लिए संतुलित आहार एक समस्या है जिसका समाधान मछली पालन द्वारा काफी हद तक सुलझाया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि उचित मात्रा में संतुलित भोजन नही मिलने से खासतौर पर बच्चे बहुत सारी बीमारियों के शिकार हो जाते है। शहरों की अपेक्षा गॉवों में माता पिता की अनभिज्ञता के कारण बच्चे संतुलित आहार से वंचित रह जाते हैं।अतः जन्तु प्रोटिन की कमी के कारण कई प्रकार के रोगों का शिकार होना पडता है। इस उभरती हुई समस्या के समाधान के लिए गॉव मे मछली पालन को अन्य खेती बाडी व्यवसाय के साथ प्रोत्साहित करना अति आवश्यक हो गया है। मछली पालन मे कम जगह, कम समय, एवं कम लागत पर ज्यादा पैदावार हो सकती है। पहाड़ी क्षेत्र में जहॉ जमीन कम है कुपोषणता ज्यादा एवं आर्थिक स्तर निम्न है, मछली पालन को अन्य प्रकार की खोती बाडी के साथ अपनाकर अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। इससे हमें अच्छे किस्म के जन्तु प्रोटिन कम लागत पर मिलता है जिसकी पाचन क्षमता 96 प्रतिशत तक है। इसमें चर्बी की मात्रा 1 से 2 प्रतिशत होती है तथा यह रक्त मे कोलिस्ट्रॉल के स्तर को बढ़ने नही देता जिससे हृदय रोग से बचाव होता है।इसमे प्रोटिन, वसा के साथ ही साथ विभिन्न प्रकार के विटॉमिन्स तथा कैल्सियम, फासफोरस, लोहा जैसे पदार्थ भी मौजूद होते हैं जो हमारे शरिर के लिए अति आवश्यक होते हैं। मछली के कुल भार का 65 प्रतिशत भाग भोजन के रूप में प्रयोग में लाया जा सकता है। इसके मॉस मे लाइसीन 'एमाइनोएसीड' की मात्रा ज्यादा होती है जो कि मनुष्य की स्मरण शक्ति को बढ़ाती है। इसके यकृत तथा शरिर से तेल निकाल कर अनेक दवाईयों मे प्रयोग किया जाता है। अतः यह कहना उचित होगा कि मछली एक संतुलित आहार है। मछली मे इसके भोजन को मॉस मे परिर्वतीत करने की क्षमता अन्य जन्तुओं की अपेक्षा डेढ़ गुना ज्यादा होती है। यह जल को स्वच्छ रखती है तथा उसमे मौजुद किडे मकोडो को खा जाती है। मछली पालन मे बंजर जमीन, निचले व दलदली जमीन का उचित इस्तेमाल हो जाता है तथा किसान की आमदनी का साधन बन जाता है। अतः आज के युग मे मछली पालन मिश्रित खेती का एक प्रमुख हिस्सा बन चुका है। परन्तु पहाडी क्षेत्रों मे उचित तकनिक तथा जागरूकता के अभाव के कारण मछली पालन एक प्रचलित व्यवसाय के रूप मे नहीं उभर पाया। हिमाचल प्रदेश एक पहाडी क्षेत्र है जहॉ भौगोलिक विभिन्नताओं के बावजूद जल स्त्रोतों की कमी नही है। इस प्रदेश मे बर्फीली नदियॉ 3000 कि मी मौसमी नदियॉ 775 कि मी जलाशय 80000 हेक्टेयर तथा तालाब सिचाई की नहरें एवं झील 2000 हेक्टेयर मत्स्य प्रग्रहण के लिए उपलब्ध हैं जिनकी उत्पादन क्षमता वर्तमान मे कम है। अतः उचित प्रबन्ध द्वारा मोटे तौर पर तालाब के इस क्षेत्र से कम से कम 32000 टन प्रमुख शफर कार्प मछलियों का उत्पादन प्राप्त हो सकता है।मछली पालन मे जल प्रग्रहण के साथ ही साथ जल का पूर्ण सदुपयोग तो होगा ही और इसका इस्तेमाल बेमौसमी सब्जी की सिंचाई के लिए भी किया जा सकता है। पहाडी क्षेत्रों मे मिलीजुली खेती करना ज्यादा उपयुक्त एवं फायदेमन्द है। पहाडी इलको मे जल प्रग्रहण की उचित तकनीक का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है तभी मछली पालन किया जा सकता है। यहॉ पर प्रायः दो प्रकार के पहाड दिखाई देते हैं एक वन से अच्छादित पहाड एवं दूसरे बीना वन के नंगे पहाड प्रथम प्रकार मे जल की कमी नही होती एवं इस तरह के पहाड से निकलने वाली नदियों मे पूरे वर्ष पानी होता है जबकि दूसरे प्रकार मे वर्षा ऋतु मे बहुत पानी होता है परन्तु बाद मे पानी का अभाव हो जाता है तथा यहॉ पर मौसमी नदियॉ पायी जाती हैं। अतः ऐसे स्थानों पर सिढ़ि पद्धिति से विभिन्न आकार के तालाब यानि ऊचाई वाले जगह पर छोटे एवं नीचली जगह पर बडे तालाब बनाकर वर्षा एवं रिसाव का पानी इकठ्ठा किया

जा सकता है जो मछली पालन के अलावा अन्य कार्यो मे भी इस्तेमाल किया जा सकता है।

यहाँ की जलवायु में 15000 मछली की अंगुलिकाओं को एक हेक्टेयर क्षेत्रफल के तालाब में पालकर 5टन मछली एक साल में पैदा किया जा सकता है और शुद्ध लाभ के रूप में 1 20 000 रूपये कमाया जा सकता है। यदि किसान के पास 1 एकड़ क्षेत्रफल का तालाब हो तो उसपर कुल खर्च 40000 रूपये होता है एवं कुल आमदनी 80000 रूपये किया जा सकता है।

मछली पालन की आर्थिकी छोटे स्तर पर

तालाब का क्षेत्रफलः	1 एकड़ या 0.4 है0
6000 अँगुलिकाओं का मूल्यः	6000 रूपये
तालाब की तैयारी पर खर्चः	2000 रूपये
मजदूर का वेतनः	16000 रूपये
16 क्विंटल कृत्रिम आहारः	14000 रूपये
अन्य खर्चः	2000 रूपये
कुल व्ययः	40000रूपये
उत्पादनः	1600 कि. ग्रा
कुल आय (50 रूपये प्रति कि. ग्रा):80000 रूपये	
शुद्ध लाभः	40000 रूपये

Grass Carp

Common Carp

Silver Carp

Lecture-32

तालाब का निर्माण एवं उसकी तैयारी

By Dr. Rani Dhanze, Deptt. Of Fisheries, DGCN COVAS, CSK HPKV, Palampur.

मछली पालन कृषक की आर्थिक उन्नति एवं खाद्यान्न आपूर्ति का साधन है। अतः मछली पालन की तकनीक एवं प्रबन्धन का पूर्ण ज्ञान अति आवश्यक है।वैज्ञानिक ढंग से हर आयु की मछली को अलग अलग तरह के तालाबों में रखा जाता है लेकिन यदि जमीन अधिक न हो

तो सिर्फ एक या दो प्रकार के तालाब "नर्सरी तालाब व स्टॉकिंग तालाब" बनाकर उन्ही में ही सब प्रकार की मछलियाँ रखी जा सकती है। मछली पालन के लिए निम्न बातों को ध्यान मे रखना जरूरी है।

1 तालाब का निर्माणः

मछली पालन तकनीक मे तालाब के निर्माण को प्राथमिकता देना आवश्यक है क्योंकि इसके बगैर यह एक सफल व्यवसाय के रूप मे नही उभर सकता। वैसे तो तालाब का आकार उपलब्ध जमीन के आकार पर निर्भर करता है चाहे यह आयताकार अंडाकार या फिर गोलाकार हो पर आयताकार तालाब कई कारणों से अच्छा माना जाता है। अतः पहाड़ी क्षेत्र मे तालाब का निर्माण स्थान विषेश की परिस्थितियों को ध्यान मे रखकर करना चाहिये हचित्र 1ध। तालाब बनाने के लिए भूमि का चुनाव एवं पानी की उचित व्यवस्था के उपरान्त यह देखना है कि भूमि मे पानी को खड़ा रखने की क्षमता है या नही।जैसे रेतीली मिट्टी में पानी नही रूकता है। चिकनी एवं रेतीली मिट्टी का मिश्रण मछली पालन के लिए अच्छा माना जाता है। आर्थिक दृष्टि से तालाब का क्षेत्रफल कम से कम 300 वर्ग मीटर तथा गहराई 6 फुट के करीब होनी चाहिए। तालाब की दिवारें ढलानदार होनी चाहिए एवं पानी का प्रवेश तालाब के ऊपरी सतह से कम से कम 1 फुट उपर होना चाहिए इसके लिए लोहे प्लास्टिक या बॉस की नाली का प्रयोग किया जाता है जिसके मुँह पर लोहे के तार की जाली लगा दी जाती है जिससे पानी के साथ अवॉछनीय जीव जन्तु तालाब मे न आ जायें।जल निकास नली तालाब के तल से एक फुट नीचे होनी चाहिए और यह नाली लोहे की होने से जल्दी खराब नही होगी तथा तल से एक फुट नीचे होने के कारण जल की निकासी के समय अवॉछनीय मछली अन्दर प्रवेश नहीं करेगी। एक फीट चौड़ा एवं एक फीट गहरा गड्ढा बनाने से मछली प्रग्रहण मे सुविधा होती है। तालाब के ऊपरी सतह से 8" या 1 फुट नीचे तक कटाई करके लकड़ी या लोहे का फ्रेम उस जगह पर लगाकर उसमें लोहे की जाली लगा दें जिससे तालाब का ज्यादा पानी इस जाली से निकल जाय और मछली तालाब से बाहर न जाये।अधिक वर्षा वाले क्षेत्र में तालाब के बाहर से एक नाली निकालनी आवश्यक है जिससे तालाब में वर्षा के पानी का प्रवेश रोका जा सके और तालाब तथा उसमें पाली जाने वाली मछलियों को नुकसान न पहुँचे। तालाब के नितल की ढलान निकास नाली की ओर होनी चाहिए। तालाब के चारो तरफ घास लगा देना चाहिए इससे तालाब को मजबूती प्रदान होगी और भूमि का कटाव रूकेगा साथ में घास को मछली के भोजन के रूप मे भी प्रयोग किया जा सकेगा।

2 तालाब की तैयारीः

मछली का बीज डालने से पूर्व तालाब को पूर्ण रूप से तैयार करना पड़ता है जिससे मछली के बीज को स्वच्छ परिवेश मिले, बीमारी की सम्भावना कम हो एवं वृद्धि तेजी से हो। तालाब की तैयारी का अर्थ है तालाब एवं उसकी मिट्टी से हानिकारक कीट-कीटाणु, अवॉछनीय जीव–जन्तु एवं जलीय खरपतवार का उन्मूलन, मिट्टी की क्षारीयता बनाये रखना तथा तालाब की उत्पादकता बढ़ाना। नए एवं पुराने दोनो ही प्रकार के तालाब की तैयारी आवश्यक है। नये तालाब की तैयारी कम समय में हो जाती है, क्योंकि इसमें सिर्फ चूने व खाद का प्रयोग

करते हैं। पुराने तालाब की तैयारी में ज्यादा समय लगता है क्योंकि इसे पहले पानी निकाल कर सुखाते हैं फिर इसमें से कीचड़ निकाल कर इसकी मुरम्मत करते हैं। यदि पानी न निकल सके तो इसे कुछ समय के लिए छोड़ देते हैं और पानी का स्तर कम होने पर कीचड़, अवाँछनीय जीव–जन्तु, कीड़े–मकोड़े तथा जलीय पौधो को निकाल कर चूने एवं खाद का प्रयोग करते हैं। तालाब की तैयारी निम्न लिखित तरीके और क्रमांक से करनी चाहिए।

2. 1 जलीय खरपतवार उन्मूलनः इनका उन्मूलन याँत्रिक विधि हाथों द्वारा जैविक विधि "ग्रास कार्प एवं कॉमन कार्प मछली इन पाथ्रैधों को खा जाती है" तथा रसायनिक विधि द्वारा किया जाता है।

2. 2 अवाँछनीय मछलियों एवं जीव जन्तुओं का उन्मूलनः इनका उन्मूलन जाल द्वारा वनस्पति विष द्वारा तथा रसायनों के प्रयोग द्वारा किया जाता है।

2. 3 जलीय कीट उन्मूलनः इनके उन्मूलन के लिए सबसे सुरक्षित उपाय यह है कि शांत एवं सुखे वातावरण मे एक हेक्टेयर जल क्षेत्र मे 50 कि ग्रा डीजल एवं 10 कि ग्रा साबुन के मिश्रण का पानी की सतह पर छिड़काव करना चाहिए। यह कार्य जीरा या अँगुलिका संचयन के 12 से 24 घंटे पूर्व किया जाना चाहिए।

2. 4 किचड़ निकालनाः छोटे तालाब से प्रति वर्ष तथा बड़े तालाब से दो या तीन वर्ष के बाद किचड़ अवश्य निकाल देना चाहिए जिससे अच्छी पैदावार ले सके।

2. 5 चूने का उपचारः चूने की मात्रा मिट्टी की अम्लीयता या क्षारीयता पर निर्भर करती है। प्रायः इसकी मात्रा 250-300 कि. ग्रा./ हे. है परन्तु यदि पानी हल्का अम्लीय (6- 6.5) हो तो इसकी मात्रा दो गुनी और यदि पानी मध्यम अम्लीय (5- 6) हो तो इस मात्रा को तीन गुना कर देना चाहिए। उसी प्रकार यदि मिट्टी ज्यादा क्षारीय (7- 8) हो तो इस मात्रा को आधा कर देना चाहिए। चूने की उपचार विधि नये एवं पुराने तालाबों के लिए अलग-अलग होती है। नये तालाब में चूने को सूखा ही इस प्रकार छिड़कते हैं कि तालाब की दीवारों एवं नितल पर चूने का पूर्ण असर हो। पुराने तालाब को सूखा कर चूना बिखेर दें या फिर चूने को पानी मे घोलकर तालाब की सतह पर बिखेर दें। चूने का उपचार जब तेज धूप हो तभी करना चाहिए। वर्षा के समय या बादल वाले दिन चूने का उपचार नहीं करना चाहिए।

2. 6 खाद का उपचारः खाद का उपचार चूने के उपचार के 2 या 3 दिन बाद करना चाहिए। खाद के रूप में गाय का गोबर, भेड़-बकरी का गोबर, सुअर का गोबर तथा खरगोश एवं मुर्गी के मल का इस्तेमाल किया जाता है। गाय का गोबर 20 टन प्रति हेक्टेयर के दर से प्रयोग किया जाता है। गोबर चाहे ताजा हो या सड़ा इसका प्रयोग करने पर कोई नुकसान नहीं होता। शुरू में खाद की कुल मात्रा का एक चौथाई हिस्सा तालाब के नितल पर बिखेर देते हैं। गोबर के उपचार के बाद तालाब को पानी से भर कर 10 से 15 दिन तक छोड़ देते है। पुराने तालाब में जिसमें पहले से ही पानी भरा हो गोबर की आंकलन की हुई मात्रा को पानी में घोल कर तालाब में बिखेर देते हैं। गोबर के शेष भाग का प्रयोग प्रतिमाह, हर पखवाड़े या हर

सप्ताह की किस्तों में प्रथम किस्त के दो महिने बाद किया जाता है।

Lecture-33

मछलियों का संचयन एवं रख रखाव *By Dr. Rani Dhanze, Deptt. Of Fisheries, DGCN COVAS, CSK HPKV, Palampur.*

मछली की अच्छी पैदावार लेने के लिए मछली की प्रजाति का चयन स्थान विशेष को ध्यान में रख कर करना अति आवश्यक है। हिमाचल प्रदेश के तराई वाले इलाकों में कार्प प्रजाति के छः किस्में एक साथ संयुक्त रूप से पाली जा सकती हैं परन्तु 500 मीटर से ज्यादा ऊँचाई वाले भाग में तीन प्रकार की विदेशी कार्प मछलियों (कॉमन कार्प ग्रास कार्प, सिल्वर कार्प) को ही पाला जा सकता है क्योंकि स्वदेशी कार्प मछलियां (कतला, रोहु, मृगल) पानी का तापमान 10^0 से. ग्रे. से कम होने पर मर जाती हैं। अतः जहाँ पानी का तापमान 15^0 से. ग्रे. से ऊपर हो छः प्रजातियाँ संयुक्त रूप से पाली जा सकती हैं।

चूँकि पहाड़ी क्षेत्र में किसान के पास ज्यादा जमीन नहीं होती और कम जगह से ज्यादा पैदावार लेने के लिए उन्हें मिश्रित मत्स्य पालन को अर्ध सघन पद्धति के अर्न्तगत अपनाना चाहिए। इस विधि में 15,000 अँगुलिका प्रति हेक्टेयर की दर से 3ः2ः1 या 2ः2ः1 के अनुपात में कॉमन कार्प ग्रास कार्प एवं सिल्वर कार्प का संचय करते हैं। 40 – 60 मि. मी. की अँगुलिकाओं का संचयन उत्पादकता की दृष्टि से उपयुक्त माना गया है। चूकि पहाड़ी क्षेत्र में सर्दी के चार महीनों में वृद्धि नहीं होती अतः मार्च के महीने में संचयन कर देना चाहिए जिससे सर्दी से पहले मछली का परिमाप खाने योग्य हो जाये।

मछली पानी में उपलब्ध प्लवकों को बड़े चाव से खाकर अपना विकास करती है। परन्तु पानी में प्लवकों की उत्पादन क्षमता सीमित होती है और उसे खाद मिलाकर बहुत ज्यादा नही बढ़ाया जा सकता। साधारणतया एक मछली के लिए एक वर्ग मीटर में उत्पन्न प्लवक पर्याप्त होते हैं परन्तु अर्ध सघन पालन विधि में मछली की संख्या ज्यादा और प्लवकों की संख्या कम होती है। अतः ऐसे परिवेश में मछली की अच्छी पैदावार के लिए उसे कृत्रिम आहार देना आवश्यक है। इनकी तीव्र वृद्धि के लिए इनके कुल भार का 2

प्रतिशत कृत्रिम आहार देते है। कृत्रिम आहार के रूप मे सिर्फ खल, चोकर या चावल की भूसी प्रयोग किया जाता है।

मछली का रखा रखाव एवं प्रबन्धनः

संचयन के एक सप्ताह बाद तक आहार की थोड़ी मात्रा दिन में तीन या चार बार डालते हैं, जिससे मछली को कृत्रिम आहार लेने का अभ्यास हो जाये तथा नये परिवेश में वह अपने आप को समान्यवित कर ले। इसके बाद आहार की मात्रा मछली के कुल भार के हिसाब से आंकलन करके तालाब में डालना

चाहिए।यदि संचयन मार्च में करते हैं तो मछली के कुल भार का 4 प्रतिशत आहार दिन में चार बार डालना चाहिए। अप्रैल से सितम्बर तक कुल वजन का 2-3 प्रतिशत आहार दिन में तीन बार देना चाहिए। अक्टूबर व नवम्बर में आहार की मात्रा घटा कर 1-2 प्रतिशत कर देनी चाहिए। ग्रास कार्प को घास की मात्रा उसके वजन का 50 प्रतिशत प्रतिदिन देने से अच्छी पैदावार मिलती है। तेज वर्षा में कृत्रिम आहार नहीं डालना चाहिए या यदि पानी की सतह पर लाल रंग की परत जम जाय तो भी खाद न डाले एवं आहार मे सिर्फ चोकर की थोड़ी मात्रा का प्रयोग करें। यदि मछलियां तालाब की सतह पर ऑक्सीजन लेने के लिए अपना मुँह खोलती है, तो भी कृत्रिम आहार बन्द कर देना चाहिए एवं तालाब मे पानी छोड़ देना चाहिए।पानी के अभाव मे एक छड़ी से पानी को सूर्योदय से पहले एवं सूर्योदय के बाद 20 से 30 मिनट तक हिलाना चाहिए। तापमान मे ज्यादा बदलाव आने पर 5 पी पी एम लाल दवा या 5 ग्राम प्रति वर्ग मीटर की दर से चूने का छीड़काव करे। प्रतिदिन 10 से 15 मिनट तालाब के पास बिताने से मछली की पूरी देखरेख होती रहती है और किसी भी अप्रिय स्थिति से मछलियों को बचाया जा सकता है।प्रबन्ध व्यवस्था जो तालाब के निर्माण से शुरू होती है एवं मछली की निकासी पर खत्म होती है, ठीक रखने पर यह व्यवसाय लाभप्रद सिद्ध होगा।

बीज की उपलब्धि हिमाचल प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय के मत्स्य विभाग या प्रदेश सरकार के मत्स्य विभाग से प्राप्त किया जा सकता है। इस कार्य के लिए आर्थिक अनुदान का प्रावधान प्रदेश सरकार के मत्स्य विभाग द्वारा किया जाता है।

Lecture-34

मछली की समन्वित खेती

By Dr. Rani Dhanze, Deptt. Of Fisheries, DGCN COVAS, CSK HPKV, Palampur.

समन्वित खेती वह खोती है जिसमें हम दो या दो से अधिक प्रकार की खेती एक साथ करते है, जैसे खारगोश –मछली पालन, पशु – मछली पालन, मुर्गी – मछली पालन, बत्तख – मछली पालन, धान – मछली पालन, सब्जी – मछली पालन, फल – मछली पालन इत्यादि। इस प्रकार की खेती किसान के लिए ज्यादा लाभप्रद है क्योकि इस पद्धति से कम लागत, कम समय और कम जगह से ज्यादा खाद्यान उत्पन्न किया जा सकता है, जिससे किासानों की आमदनी बढ़ सकती है, अधिक रोजगार मिलेगा एवं फसल नष्ट होने की सम्भावना कम हो जायेगी। अगर मछली की खेती को समझदारी से समन्वित किया जाये तो जमीन का पूरी तरह से सदुपयोग होता है एवं व्यर्थ पदार्थो को पुनः उपयोग मे लाया जा सकता है। इससे मछली पालन में आवश्यक आहार एवं उर्व रक पर होने वाला खर्च कम होता है तथा साथ ही परिस्थितिकी यानि वातावरण का संतुलन भी बबा रहता है।

हमारे देश में परम्परागत विधियों से मछली पालने पर औसत उत्पादन 600 किलो ग्राम प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष है। किन्तु वैडाानिक तरीकों से मछली पालन करने पर इससे कहीं ज्यादा उत्पादन किया जा सकता है। धान – मछली पालन बंगाल, उडीसा और केरल में बहुत प्रचलित है। मछली के उत्सर्जी पदार्थ धान के लिए उर्वरक का काम करता है जिससे धान की पैदावार 10 से 15 प्रतिशत बढ़ जाती है। इस तरह की खेती में 300 से 700 किलो मछली प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष पैदा किया जाता है। इसी प्रकार मखाने और मछली की खेती बिहार में प्रचलित है। किसान जलवायु और अपनी सुविधानुसार कोई भी मिश्रित खेती अपना सकता है। बत्तख – मछली पालन में 200 से 300 बत्तखें एक हेक्टेयर तालाब के ऊपर पाली जा सकती है। ये बत्तखें 10 से 15 टन मल प्रति वर्ष तालाब में डालती हैं जो उर्वरक का काम करता है, जिससे प्लवक का उत्पादन होता है तथा मछली पालन के खर्च मे 60 प्रतिशत तक की कटौती आती है। बत्तख जलीय खरपतवार केचुओं कीडों को खाती है जिससे तालाब भी साफ रहता है , तालाब की मिट्टी भुरभरी एवं नरम हो जाती है और मिट्टी से पोषक तत्व पानी मे निकल कर उसकी उत्पादकता बढ़ाते हैं। इस पद्धति में 120 से 180 किलो अधिक मछली का उत्पादन होता है। इसी प्रकार 500 से 600 मुर्गी या 30 से 40 सुअर एक हेक्टेयर तालाब के किनारे या ऊपर पाले जा सकते है। इनके मल मूत्र से तालाब का उर्व रीकरण होता है, जे तालाब मे मछली के प्राकृतिक भोजन को पैदा करने मे सहायक है जिससे उर्वरक तथा पूरक आहार के खर्च में कटौती होती है। मुर्गी पालन तालाब के बांध अथवा तालाब के ऊपर बने हुए दबड़े मे किया जा सकता है। मुर्गी के मल मूत्र को अच्छी तरह पानी मे घोल कर तालाब में छिडकना चाहिए। दबड़े की जमीन बांस की खपच्चियों से बनाएम तथा उनके बीच 1 सें मी की दूरी रखें

जिससे उसका मल पदार्थ तालाब में सीधा गिर जाये। इस प्रणाली से किसान को 4500 से 5000 किलो मछली और 70000 अण्डे तथा 1000 किलो मुर्गी का मॉस प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष की आमदनी है। सुअर– मछली पालन में कुछ मछलियां सुअर के मल को सीधे खाती हैं जिसका लगभग 70 प्रतिशत भाग मछली द्वारा खाया एवं पचाया जाता है। सुअर बाडे से इकट्ठा किया हुआ मल पदार्थ प्रतिदिन सबेरे सूर्योदय के पश्चात तालाब में डालते है। इस प्रणाली से 6000 से 7000 किलो मछली और 4200 से 4500 किलो सुअर का मॉस प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष प्राप्त होता है। मछली – गाय समन्वयन मे गोशाला की धोअन को सीधे तालाब में डाल दिया जाता है जिससे मछली पालन की कीमत मे 50 प्रतिशत की कटौती होती है। दूसरे जानवरों की अपेक्षा गाय का गोबर ज्यादा अच्छा होता है। बायोगेस की स्लरी मछली के तालाब मे खाद का काम करती है। तालाब मे स्लरी 15000 से 30000 लिटर प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष की दर से डाला जाता है। इसकी ऑक्सीजन मांग बहुत कम होती है, अतः यह कच्चे गोबर की अपेक्षा ज्यादा सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त तालाब के पानी का उपयोग तालाब के किनारे सब्जियों तथा फलों को उगाने में किया जा सकता है और किसान अपनी आमदनी 25 से 35 प्रतिशत बढ़ा सकता है। यहाँ के जलवायु मे खुम्भ – मछली पालन किया ज सकता है, इसमे खुम्भ निकालने बाद उसके खाद का इस्तेमाल मछली के तालाब में प्राकृतिक भोजन के उत्पादन के लिए हो सकता है।तालाब के किचड़ को कृषि की फसलों के लिए खाद की तरह प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि 100 किलो सूखे किचड़ में 962 ग्राम अमोनियम सल्फेट, 435 ग्राम यूरिया तथा 1 किलो कैल्सियम सुपर फास्फेट होता है। इस प्रकार हमें ताजा दूध, ताजी मछली, अण्डा, मांस, फल और सब्जियॉ प्राप्त हो सकती है और आर्थिक स्तर भी ऊचॉ उठा सकता है।

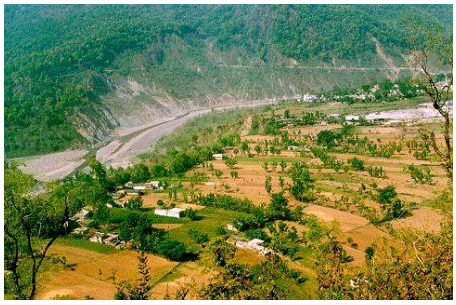

Dadahu Village in Distt. Simaur

Lecture-35

Control of hemorrhage *By Dr Arvind Sharma, DGCN College of Veterinary & Animal Sciences CSK HPKV Palampur.*

Hemorrhage: Loss of blood due to damage to blood cells or damage to the blood carrying vessels i.e. the arteries and veins.

Haemostasis: It is the process of arrest of hemorrhage.

Why hemorrhage needs to be arrested or controlled?

Haemostasis or arrest of hemorrhage is essential to

- Prevent to prevent the animal going into shock due to hypoxia
- Prevent the animal going into coma due to brain getting less oxygen and getting damaged.
- Blood acts as a media for infection in the wound and hence delays healing.
- Prevent improper wound closure after surgery.
- Prevent obscured vision during surgery.

Blood fails to clot due to

- Liver diseases
- Chemical poisoning – Arsenic, heparin
- Snake bite
- Blood disorders - Hemophilia
- Deficiencies – Vit. K, Vit. B, Vit. C

Techniques of haemostasis / control of haemorrhage

i) Crushing – of the bleeding vessels with haemostatic forceps

ii) Torsion – After crushing the blood vessel with the forceps it is twisted further, especially if the blood vessel is big enough.

iii) Ligation – The bleeding vessel is sealed by tying the bleeding end tightly with a thread/ suture material.

iv) Suturing – The bleeding vessel wall is sewed back with a fine thread or suture material. If the blood vessel is cut completely, the vessel ends are sewed together with a fine suture material with a specific suturing technique.**v) Digital pressure** – Application of digital pressure arrests bleeding in case of small capillaries.**vi) Tourniquet** – Application of tight bandage proximal to site of bleeds sometimes arrests bleeding especially in the limb area hemorrhage.**vii) Electrocautery** – The vessel bleeding edge is burnt to get sealed due to coagulation by the passage of low voltage electric current through special forceps.**viii) Thermocautery** – The vessel bleeding edges are burnt with a hot object or instrument by the coagulation of proteins on the vessel wall leading to the sealing of the point of hemorrhage. E.g Firing with red hot iron rods, blocks, lines etc. This specially done in cases hemorrhage is very diffuse and it is not possible to ligate the blood vessels e.g in cases of horn amputation in horn cancer. This a very crude and cruel method which is not practiced now due to animal welfare concerns. **ix) Local haemostats** – ice, adrenaline, Potassium permagnate, alum, tincture of ferric perchloride, silver nitrate, glacial acetic acid, tincture Benzoin co. **x) Specific local haemostats** – Bone wax, thrombophob, gel foam **xi) Systemic haemostats** –Vit.K, Vit.

C, Ca preparations, Chromostat, Botropase **xii) Diathermy**

Lecture-36

Introduction to antiseptics and disinfectants *By Dr Arvind Sharma, DGCN College of Veterinary & Animal Sciences CSK HPKV Palampur (H.P).*

Disinfection: Disinfection means reducing the number of viable microorganisms present in a sample/article. It is the removal or destruction of pathogenic micro organisms though not necessarily of bacterial spores.

Sterilization: It is a process by which an article can be rendered free from all forms of living microbes including bacteria, fungi and their spores and viruses

DISINFECTANTS: Are agents that destroy pathogenic organisms on non living things objects. e.g. formalin, Glutaraldehyde, phenyl etc. They are irritant and toxic**.**

Antiseptics: Typically an antiseptic is a chemical agent that is applied to living tissue to kill microbes. Spirit, Betadine etc. They are non toxic.

Detergents: are the chemicals which clean the body surface by just lowering down the surface tension. They neither kill nor inhibit the microorganisms. E.g Soaps

Method of cleaning the instruments:

- Clean the instruments with soap water
- Put the items in 1% Tri sodium phosphate and the heat to boil and let it cool down.
- Wipe the instruments
- Now these instruments are ready for sterilization
- Sharp edged instruments may get rust after being washed so in order to check that, put the crystals of sodium nitrate.

Method of sterilization:

Physical and chemical

I. Physical

1. Sterilization by heat
    - Moist heat
    - Dry Heat
2. Radiation

II. Chemical

a) Gaseous

b) Liquid Chemicals

Sterilization by heat:

Oldest and most widely used and recognized process.

Dry heat sterilization:

- Dry heat destroys microorganisms primarily by oxidation process.
- It is used to sterilize those materials for which moist heat cannot be used either due to deleterious effects on the material or material being impermeable to

steam. E.g: oils, powders, containers etc.

- Slow process and long exposure time at a high temperature is required as spores are relatively resistance to dry heat.
- Methods:
    a. Direct exposure of instruments to flame – not reliable.
    b. Hot air oven – most common method.

An exposure to dry heat at a temperature of 160^0C for 60min will achieve sterilization equal to that of moist heat at 121^0C for 15 min, at 15 lbs pressure.

Temperature time combinations for dry heat sterilization

- 120^0c for 8.0 hours
- 140^0c for 2.5 hours
- 160^0c for 60 minutes
- 170^0c for 40 minutes

- Exposure time relates to the time after specific temperature has been achieved.
- Clean gowns, paper wrapped material, swabs– 120^0c for 8 hours
- Stainless steel and glass ware – 160^0c for 60 min
- Materials can be sterilized by hot air oven: Glass ware, Glass surgical, Dry material in closed containers, Powders, Oils, Drapes etc.

Moist heat sterilization: (Steam sterilization)

a) Boiling in water

b) Use of an auto clave

a) Used for glass syringes, needles etc..
    1) At 100^0c temp for 10 to 15 min.
    2) Long exposure times are required to kill spores.
b) Temperature above 100^0C method for sterilization for critical items in surgery.
c) Done in closed containers like pressure cooker for emergency sterilization

Auto clave: Is use of saturated steam under pressure and is most dependable and recognized method of sterilization. 121^0C for 15 min at 15lbs pressure. Or 130^0C for 2.5 min (In emergency). Materials that can be sterilized are Sharp instruments — scissors, needles; surgical instruments, dextrose normal saline and surgical gloves etc. can be sterilized by this method.

Radiation: UV lamps- used at 330 micro – germicidal. UV light is not terribly penetrating but is good for disinfecting surfaces and air**.** Mercury vapour (Germicidal lamp) used to sterilize Operation theatres. X-Rays and gamma rays – very lethal to living cells used for Disposable surgical, Catheters, Endotracheal tubes, I/V sets etc. Ultrasonic cleaning: High frequency sound is converted into mechanical vibrations that rapidly remove soil from instruments.

Chemical Sterilization:

- Refers to the use of gaseous or liquid chemicals
- Chemicals methods are developed to sterilize materials that are damaged by wet or dry heat.

- E.g: ethylene oxide, formaldehyde and beta propiolactone (generally used)
- Sharp edged instruments – Scalpel blades, hypodermic needles.

Gaseous sterilization

A. Ethylene oxide Capable of destroying all known micro organisms including bacteria, spores, fungi and at least the larger viruses.

- It is flammable and explosive except when mixed with CO_2
- Used in 3% concentration and exposure time is 21 to 60^0c and relative humidity 40%.

B. Formaldehyde: HCHO

- Exposure time 3 hrs.
- Used in sterilization of OT, Plastic materials, gum shoes etc

Cold sterilization: Refers to soaking instruments in disinfectant solutions.

1. **Alcohols:**

a) E.g: Ethyl alcohol – 70%
Isopropyl alcohol – 90% .

70% alcohol is more germicidal than absolute alcohol. Isopropyl alcohol is more bactericidal than ethyl alcohol. Sterilization can be done for needles, emergency scissors, scalpel etc.

2. Aldehydes: Formaldehyde and Glutaraldehyde (cidex, parvocide)

a) Formaldehyde:

- Available as formalin 37% sol of formaldehyde and water.
- Used as gas for fumigation of operation theatres , poultry houses before housing the stock.
- Irritant to skin and mucous membranes.

b) Glutaraldehyde

- 2% Glutaraldehyde (dilute cone)
- Slightly irritant
- Liquid disinfect of choice for lensed instruments.

3. Chloro hexidine: Antiseptic agent available is detergent, tincture and aqueous form.

- Agent for preparation of surgical patients
- Non irritating to skin.
- Effective against gram positive and negative organisms

5. Dyes:

- Acriflavin
- Proflavine
- Gentian violet

6. Halogens:

a) Hypochlorites:

- Popularly known as bleaches.
- Cheep and effective environmental disinfectants.
- Sodium hypochlorite

b) **Chloramines**: Chlorine releasing solutions. Eusol: Fresh mix of chlorinated like (bleaching powder) and boric acid.

c) **Iodides**: Effective bactericidal agents.

- Stain fabrics and tissues.
- Good viricidal but poor sporicidal.

- Conc. More than 3.5% toxic to tissue
- Corrode the instruments
- Excellent general purpose disinfects.

E.g 5%Povidone –iodine, Tincture iodine, Lugole's iodine. Tincture Benzoin co.

10. Pine oil fluids: Phenyl

- Pleasant smelling liquids
- Household use
- Minimal disinfect use
- Not for hospitals.

11. Quaternary ammonium compounds:

- Non toxic with good detergent properties.
- Suitable for cleaning wounds.
  - Example: cetrimide (Savlon).
- Do not affect spores or viruses
- Very bland and nontoxic to tissue – popular.
- Selectively absorbed by fabrics

Quaternary ammonium compounds

- Cetrimide + chlorhexidine — savlon* - especially used to scrub dog bite wounds
- 5% solution — skin disinfection
- 1% solution — cleaning wounds

12. Oxidizing agents: provide fresh oxygen to the wound along with antiseptic action.

a) Hydrogen peroxide – 2% solution used for cleaning wound cavities & 6% solution used for cleaning ear wax.

b) Potassium permanganate – 1:1000 to 1:2000 solution used for irrigation of wounds

Common disinfectants used in Veterinary practice

Agent	Practical Use	Disinfectant properties	Antiseptic properties	Precautions
Alcohol Isopropyl alcohol (50%, 70%) Ethyl Alcohol (70%)	Spot cleaning, injection, site preparation	Good	Very good	Corrosive to stainless steel, volatile
Chlorine compounds Hypochlorite	Cleaning floors and counterparts	Good	Fair	Inactivated by organic debris, corrosive to metal
Iodine compounds	Cleaning dark	Good	Good	Stains fabric and

Iodophores (7.5%) scrub solutions	colored floors and countertops			tissue
Glutaraldehyde (2%) Alkaline solution	Disinfection of lenses and delicate instruments	Good (Sterilizes)	None	Tissue reaction, odor (rinse instruments well before use

Lecture-37

Protozoan Parasites of Veterinary Importance and their control

By S. Mittra, Department of Veterinary Parasitology DGCN COVAS CSK HPKV, Palampur.

Parasite: These are smaller organisms living in or on another bigger organism called Host, for food and shelter and causing harm to the host at the same time. The partners belong to separate species.

Protozoan Parasite: These are those parasites which have a single celled body to carry out all the life processes.

Protozoa of Veterinary Importance: The following are the important protozoan parasites and disease produced by them:

A. Coccidia and coccidiosis: Coccidia is the parasite and coccidiosis is the disease produced by it. It causes harm in the gastrointestinal system. Life cycle is direct and there is no involvement of intermediate host.
Sufferer animal: Cattle,sheep,goats,rabbits,poultry etc. Younger animals of all the groups suffer. **Symptoms** - Loose faeces containing mucus and blood, weakness, emaciation, reduced food intake, soiled hind quarter.

Management - Overcrowding of animals during stay should be avoided. Animal houses with its floor should be kept dry and ventilated.

B.Babesia and babesiosis: Babesia is the parasite and babesiosis is the disease condition produced by it. This is a blood protozoa residing inside the red blood cells.
Sufferer animals- Calf, sheep, goat, horse and dog.

Transmission - Infection is transmitted via the tick.

Symptoms - Spectacular rise in body temperature, haemoglobinurea.Profuse diarrhoea followed by constipation.Animals become thin and emaciated at the later part of the disease.

Management - If tick is controlled adequately disease occurrence will be minimum. Several spray and topical acaricides can be used for this purpose.

C.Theileria and theileriosis: Theileria is the parasite and theileriosis is the disease condition produced by it. The parasite is minute and can be seen residing inside the red blood cells as well as white blood cells under good microscope

Sufferer animals- cattle,sheep,goats
Transmission - Infection is transmitted via the tick. **Symptoms** - High fever (40 – 41.70 C), loss of feed intake, swelling of superficial lymph nodes , nasal discharge, lacrimation swelling of the eyelid and ears, diarrhoea with blood, mucus in the faeces . Exotic cattle dies due to lung oedema if untreated.

Management - If tick is controlled adequately disease occurrence will be minimum. Several spray and topical acaricides can be used for this purpose.

D.Tritrichomonas and protozoan abortion: Tritrichomonas is the parasite and it causes early abortion in bovines.
Sufferer animals- cattle

Transmission - Infection is transmitted during coitus.

Symptoms - Pain on micturition initially and later on a mucopurulent discharge in case of male. In female, vaginitis and a mucopurulent discharge from the genetalia. Early abortion within 8 – 16 weeks of gestation period.

Management - Breeding rest for three consecutive oestrus cycle to the aborted cow followed by infection free artificial insemination.

E.Sarcocystis and sarcocystosis: Sarcocystis is the parasite and sarcocystosis is a special disease condition produced by it.
Sufferer animals- Cattle, buffalo, sheep, goat.

Transmission - Dog, wolves, fox, hyenas etc. serve as definitive hosts and shed. Infective stage in their faeces.

Symptoms -Anorexia, fever, anaemia, loss of weight, a disinclination move, and sometimes recumbancy. There is often a mark, loss of hair at the end of the tail. Submandibular oedema and enlargement of lymph nodes may also accompany.

Management -Ordinarily management is difficult since wild animals are involved in the transmission of the disease.

Lecture 38

Important infectious diseases of livestock in Himachal Pradesh

By Rajesh Chahota, Department of Veterinary Microbiology, DGCN COVAS, CSK HPKV Palampur.

Pasteurellosis in animals

Pasteurellosis is an infection with a species of the bacteria called *Pasteurella*, which is found in animals (cattle, buffaloes sheep, goats, rabbits and pigs) and humans. *Pasteurella multocida* is carried in mouth and respiratory tract of several animals. *P. multocida* causes numerous pathological conditions in domestic animals like Haemorrhagic septicemea or *Gal-Ghottu*. In *gal-ghottu*, there is swelling of neck region with difficult breathing and high fever is seen. Environmental conditions (transportation, housing deficiency, and bad weather) also play a role in disease causation. The following diseases are also caused by *Pasteurella* spp., alone or associated to other pathogens:

- Shipping fever in cattle and sheep.
- Enzootic pneumonia of sheep (and goats, with frequent intervention of *Mannheimia haemolytica*)
- Fowl cholera (chicken and other domestic poultry and cage birds)
- Enzootic pneumonia of pigs
- Pasteurellosis of rabbits

Diagnosis is made with isolation of *P. multocida* in a normally sterile site (blood, pus or CSF). Treatment is usually done with timely administration of antibiotics. Annual vaccination is done to control the disease.

Anthrax

Anthrax is one of the oldest diseases of grazing animals such as sheep and cattle**.** It is a severe disease caused by the bacteria *Bacillus anthracis*. Infection of humans can result from contact with infected animal hides, fur, wool ("Woolsorter's disease"), leather or contaminated soil. Anthrax is now fairly rare in humans, although it still regularly occurs in ruminants, such as cattle, sheep, goats, camels, wild buffalo, and wild animals like antelopes, zebras, rhinos, elephants and lions. Most forms of the disease are lethal. *B. anthracis* can form dormant spores that are able to survive in harsh conditions for extremely long periods of time, even decades or centuries. When spores are inhaled, ingested, or come into contact with a skin lesion on a host they may reactivate and multiply rapidly and cause high fever, oedema and oozing of blood from natural body openings. Anthrax commonly infects wild and domesticated herbivorous mammals which ingest or inhale the spores while grazing. Ingestion is thought to be the most common route by which herbivores contract anthrax. Carnivores living in the same environment may become infected by consuming infected animals. The

dead body of an animal that died of anthrax can also be a source of anthrax spores. There are effective vaccines against anthrax, and some forms of the disease respond well to antibiotic treatment.

Brucellosis

Brucellosis affects primarily the livestock and is also transmitted to humans by ingestion, close contact, inhalation or accidental inoculation. *Brucella* species infecting domestic livestock are *B. melitensis* (goats and sheep), *B. suis* (pigs), *B. abortus* (cattle and bison), *B. ovis* (sheep), and *B. canis* (dogs). *Brucella* species have also been isolated from several sea mammal species. The bacterium *Brucella abortus* is the principal cause of brucellosis in cattle that cause abortions in last three months of pregnancy. The bacteria are shed from an infected animal at or around the time of calving or abortion. Once exposed, the likelihood of an animal becoming infected is variable, depending on age, pregnancy status, and other factors. The most common clinical signs of cattle infected with *B. abortus* are high incidences of abortions, arthritic joints and retained after-birth. Males can also harbor the bacteria in their reproductive tracts, namely seminal vesicles, ampullae, testicles, and epididymides. Disease in humans is called **Malta fever** and is caused by ingestion of unboiled milk or meat from infected animals, or close contact with their secretions. Symptoms include profuse sweating and joint and muscle pain. Laboratory tests are required to diagnose the disease and for treatment antibiotics are used for several weeks

Rabies

It is viral disease and spread by a bite from an infected animals. Most animals can be infected by the virus and can transmit the disease to humans. Infected animals like dogs, bats, monkeys, raccoons, foxes, skunks, cattle, wolves, mongoose or cats. The virus is usually present in the nerves and saliva of a symptomatic rabid animals. In many cases the infected animal is exceptionally aggressive, may attack without provocation, and exhibits otherwise uncharacteristic behavior. Rabies is almost invariably fatal. Once the rabies virus reaches brain and symptoms begin to show, the infection is effectively untreatable and usually fatal within days. Three stages of rabies are recognized in dogs and other animals. The first stage is a one- to three-day period characterized by behavioral changes and is known as the prodromal stage. The second stage is the excitative stage, which lasts three to four days. It is this stage that is often known as *furious rabies* for the tendency of the affected dog to be hyperreactive to external stimuli and bite at anything near. The third stage is the paralytic stage and is caused by damage to motor neurons. Incoordination is seen owing to rear limb paralysis and drooling and difficulty swallowing is caused by paralysis of facial and throat muscles. For controling the disease regular vaccination of dogs is recommended and post bite

vaccination is also available after a rabid dog bites the animal or human.

Foot-and-mouth disease

Foot-and-mouth disease (FMD) is a severe and sometimes fatal viral disease of domestic animals such as cattle, buffalo, sheep, goats and pigs, as well as wild animals. It is caused by foot-and-mouth disease virus. The virus is a highly variable and transmissible virus. There are seven FMDV serotypes: O, A, C, SAT-1, SAT-2, SAT-3, and Asia-1. These serotypes show some regionality, and the O serotype is most common. FMD occurs throughout much of the world, and whilst some countries have been free of FMD. The disease is characterised by high fever that declines rapidly after two or three days; blisters inside the mouth that lead to excessive secretion of stringy or foamy saliva and to drooling; and blisters on the feet that may rupture and cause lameness. Adult animals may suffer weight loss from which they do not recover for several months as well as swelling in the testicles of mature males, and in cows, milk production can decline significantly. Though most animals eventually recover from FMD, the disease can lead to myocarditis (inflammation of the heart muscle) and death, especially in newborn animals. Some infected animals remain asymptomatic, but they nonetheless carry FMD and can transmit it to others. FMD can be transmitted in a number of ways including close contact animal to animal spread, long-distance aerosol spread and fomites or inanimate objects, typically fodder and motor vehicles. The clothes and skin of animal handlers such as farmers, standing water, and uncooked food scraps and feed supplements containing infected animal products can harbor the virus as well. Cows can also catch FMD from the semen of infected bulls. Control measures include proper disposal of materials from infected livestock. Prevention is by means of annual FMD vaccination.

Newcastle disease (Ranikhet Disease)

Newcastle disease is a disease of poultry and wild bird species. Highly virulent virus strains produce severe nervous and respiratory signs, spread rapidly and cause up to 90% mortality. The signs include gasping, coughing, depression, inappetence, muscular tremors, drooping wings, twisting of head and neck, circling, complete paralysis, greenish, watery diarrhoea, misshapen, rough- or thin-shelled eggs and reduced egg production. Less virulent strains cause coughing, affect egg quality and production and result in up to 10% mortality or only mild signs with negligible mortality. The disease spread primarily through direct contact between healthy birds and the bodily discharges of infected birds. The disease is transmitted through infected birds' droppings and secretions from the nose, mouth, and eyes. NDV spreads rapidly among birds kept in confinement, such as commercially raised chickens. Virus-bearing material can be picked up on shoes and clothing and carried from an

infected flock to a healthy one. No treatment for NDV exists, but the use of prophylactic vaccines and sanitary measures reduces the likelihood of outbreaks.

OTHER IMPORTANT DISEASES

Glanders: It is an infectious disease that occurs primarily in horses, mules, and donkeys. It is caused by infection with the bacterium *Burkholderia mallei*, usually by ingestion of contaminated food or water. Symptoms of glanders include the formation of nodular lesions in the lungs and ulceration of the mucous membranes in the upper respiratory tract. The acute form results in coughing, fever and the release of an infectious nasal discharge, followed by septicaemia and death within days. In the chronic form, nasal and subcutaneous nodules develop, eventually ulcerating. Death can occur within months, while survivors act as carriers.

Marek's disease: It is a cancerous viral disease in chickens. The disease is characterized by presence tumors in nerves and organs. Symptoms are paralysis of one or more limbs. Tumours in the skin, skeletal muscle, ovary, spleen, liver, kidneys, lungs, heart, proventriculus and adrenals. The vaccine is administered to one day old chicks through sub-cutaneous inoculation.

Bluetongue disease: Bluetongue disease or catarrhal fever is a viral disease of ruminants mainly sheep and less frequently cattle, goats, buffalo, deer, dromedaries and antelope. It is caused by the Bluetongue virus, which is spread by insects (midge, *Culicoides imicola* and other culicoids). Major signs are high fever, excessive salivation, swelling of the face and tongue and cyanosis (pale coloration) of the tongue. Swelling of the lips and tongue gives the tongue its typical blue appearance, though this sign is confined to a minority of the animals. Nasal symptoms may be prominent, with nasal discharge and stertorous respiration. Some animals also develop foot lesions, beginning with coronitis, with consequent lameness. In sheep, this can lead to knee-walking. In cattle, constant changing of position of the feet gives bluetongue the nickname "The Dancing Disease" Not all animals develop symptoms, but all those that do lose condition rapidly, and the sickest die within a week. For affected animals which do not die, recovery is very slow, lasting several months. There is no efficient treatment. Prevention is by simple husbandry changes and practical midge control measures may help break the livestock infection cycle. Housing livestock during times of maximum midge activity (from dusk to dawn) may lead to significantly reduced biting rates.

Black Quarter disease (Langra bukhar): Symptoms will be lameness, swelling of the flanks, thighs, breast, neck and shoulder, high fever, severe depression and loss of appetite. Death can occur very quickly. This is caused by an anaerobic bacteria called Clorastedium chauvii. Sometimes massive doses of antibiotics will save a cow if given early.

Calf scours: Caused by virus and bacteria, can be a due reo-virus and a corona virus but *E. coli* is involved in many cases. Symptoms are depression, loss of appetite, diarrhea, rough coat, sunken eyes and in acute cases death. Discontinue feeding milk and consult your veterinarian.

Chlamydial and *Rickettsial diseases*: These diseases have a global distribution and recent reports suggest their continuing presence in India as well. Various diseases in sheep, goats, cattle and birds have been observed in India, which includes enzootic sheep abortions, diarrhoes, joint swelling, eye infection by many *Chlamydia* spp. and scrub typhus, spotted fever and Indian tick typhus by *Rickettsia* spp. The rickettsiae are transmitted by lice, ticks, flees or mites.